१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०२९

सम्पादकीय

नियमसार : एक अनुशीलन

(गतांक से आगे...)

निश्चयपरमावश्यकाधिकार

(गाथा १४१ से गाथा १५८ तक)

नियमसार गाथा १४१

विगत दस अधिकारों में क्रमश: जीव, अजीव, शुद्धभाव, व्यवहार-चारित्र, परमार्थप्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान, परम आलोचना, शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्त, परमसमाधि, परमभक्ति की चर्चा हुई। अब इस ग्यारहवें अधिकार में निश्चय परम आवश्यक की चर्चा आरंभ करते हैं।

इस अधिकार की पहली गाथा और नियमसार शास्त्र की १४१वीं गाथा की उत्थानिका लिखते हुए टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव लिखते हैं ह्न

''अब व्यवहार छह आवश्यकों के प्रतिपक्षी शुद्धनिश्चय (शुद्ध निश्चय आवश्यक) का अधिकार कहा जाता है।''

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं भणंति आवासं।
कम्मविणासणजोगो णिव्वुदिमग्गो त्ति पिज्जुत्तो ।।१४१।।

(हरिगीत)

जो अन्य के वश नहीं कहते कर्म आवश्यक उसे।
कर्मनाशक योग को निर्वाण मार्ग कहा गया ।।१४१।।

जो जीव अन्य के वश नहीं होता, उसे आवश्यक कर्म कहते हैं। तात्पर्य यह है कि अन्य वश नहीं होना ही आवश्यक कर्म है। कर्म का विनाश करनेवाला योगरूप परम आवश्यक कर्म ही निर्वाण का मार्ग है ह्न ऐसा कहा गया है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव तात्पर्यवृत्ति टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ स्ववश को निश्चय आवश्यक कर्म निरन्तर होता है ह्न ऐसा कहा गया है।

विधि के अनुसार परमजिनमार्ग के आचरण में कुशल जो जीव निरन्तर अन्तर्मुखता के कारण अनन्यवश है, अन्य के वश नहीं है, साक्षात् स्ववश है; व्यवहारिक क्रिया

के प्रपंच से पराङ्गमुख उस जीव को अपने आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले निश्चय धर्मध्यानरूप परम आवश्यक कर्म होता है। परम तपश्चरण में निरंतर लीन रहनेवाले परमजिनयोगीश्वर ऐसा कहते हैं।

दूसरी बात यह है कि सम्पूर्ण कर्मों के नाश का हेतु, त्रिगुप्तिगुप्त परमसमाधि लक्षणवाला जो परमयोग है; वह ही साक्षात् मोक्ष का कारण होने से निवृत्ति मार्ग है, मुक्ति का कारण है। ऐसी निरुक्ति अर्थात् व्युत्पत्ति है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा और उसकी टीका के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''सामायिक, स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान का जो शुभविकल्प साधकदशा में आता है; इन छह व्यवहार आवश्यकों से विरुद्ध यह शुद्ध निश्चय आवश्यक है। व्यवहार आवश्यक पुण्यबंध का कारण है और ज्ञानमात्र आत्मा में लीनतारूप निश्चय आवश्यक मोक्ष का कारण है; क्योंकि वास्तव में मोक्षमार्ग तो अरागी एकरूप है और व्यवहाररूप छह आवश्यक से प्रतिपक्ष/विरुद्ध है।[१]

साधक जीव को कमजोरी के कारण व्यवहार के विकल्प होते हैं, वे जानने योग्य हैं, ज्ञेय हैं; आदर करने योग्य नहीं हैं, उपादेय नहीं हैं।

मोक्षमार्ग वीतरागभावस्वरूप है। शुभरागरूप सामायिक, स्तुति, वंदना, कायोत्सर्ग आदि बीच में आते हैं; परन्तु वे मोक्ष के साधन नहीं है। मैं शरीरादि की क्रिया का कर्त्ता नहीं हूँ। पुण्यादि व्यवहार की रुचि रहित हूँ। ह्न ऐसी निर्मल दृष्टि सहित श्रद्धा-ज्ञान-लीनतारूप वीतराग मार्ग के आचरण में/ज्ञानानन्द में एकाग्र जीव सदा ही अन्तर्मुख होने से अन्यवश नहीं है, परन्तु स्ववश है। धर्मीजीव स्वाधीन सुखमय है। पराधीनदृष्टिवाले को कभी भी सुख नहीं है।[२]''

उक्त गाथा और उसकी टीका का भाव इतना ही है कि अवश का भाव आवश्यक है और पर के वश नहीं होना ही अवश है।

तात्पर्य यह है कि स्ववश अर्थात् स्वाधीन वृत्ति और प्रवृत्ति ही निश्चय परम आवश्यक है। मुनिराजों के होनेवाले स्तुति, वंदना आदि व्यवहार परम आवश्यक वास्तविक आवश्यक नहीं; क्योंकि वे पुण्यबंध के कारण हैं।

मुक्ति का कारण तो एकमात्र त्रिगुप्ति गुप्त परम समाधि लक्षणवाला परमयोग ही है और वही निश्चय परम आवश्यक है।।१४१।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११५९ २. वही, पृष्ठ ११६०

इसके बाद टीकाकार मुनिराज '**श्रीमद् अमृतचंद्राचार्य के द्वारा भी कहा गया है ह्न** ऐसा कहकर एक छन्द उद्धृत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

आत्मा धर्मः स्वयमिति भवन् प्राप्य शुद्धोपयोगं
नित्यानन्दप्रसरसरसे ज्ञानतत्त्वे निलीय।
प्राप्स्यत्युच्चैरविचलतया निःप्रकम्पप्रकाशां
स्फूर्जज्ज्योतिः सहजविलसद्रत्नदीपस्य लक्ष्मीम्।।६६।।[१]

(मनहरण)

विलीन मोह-राग-द्वेष मेघ चहुं ओर के,
चेतना के गुणगण कहाँ तक बखानिये।
अविचल जोत निष्कंप रत्नदीप सम,
विलसत सहजानन्द मय जानिये।।
नित्य आनंद के प्रशमरस में मगन,
शुद्ध उपयोग का महत्त्व पहिचानिये।
नित्य ज्ञानतत्त्व में विलीन यह आतमा,
स्वयं धर्मरूप परिणत पहिचानिये।।६६।।

इसप्रकार शुद्धोपयोग को प्राप्त करके यह आत्मा स्वयं धर्मरूप परिणमित होता हुआ नित्यानंद के प्रसार से सरस आत्मतत्त्व में लीन होकर, अत्यन्त अविचलता के कारण दैदीप्यमान ज्योतिर्मय और सहजरूप से विलसित स्वभाव से प्रकाशित रत्नदीपक की भाँति निष्कंप प्रकाशमय शोभा को प्राप्त करता है।

घी या तेल से जलनेवाले दीपक की लौं वायु के संचरण से कांपती रहती है और यदि वायु थोड़ी-बहुत भी तेज चले तो बुझ जाती है; परन्तु रत्नदीपक में न तो घी या तेल की जरूरत है और न वह वायु के प्रचंड वेग से काँपता ही है। जब वह कांपता भी नहीं तो फिर बुझने का प्रश्न नहीं उठता।

यही कारण है कि यहाँ ज्ञानानन्दज्योति की उपमा रत्नदीपक से दी गई है। क्षायोपशमिक ज्ञान और आनन्द; तेल के दीपक के समान अस्थिर रहते हैं, अनित्य होते हैं और क्षणभंगुर होते हैं; किन्तु क्षायिकज्ञान और क्षायिक आनन्द; रत्नदीपक के समान अकंप चिरस्थाई होते हैं।

शुद्धोपयोग के प्रसाद से होनेवाले अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख अकंप चिरस्थाई होने से परम उपादेय हैं।

१. प्रवचनसार, कलश ५

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

"व्यवहाररत्नत्रय पुण्यास्रव है, वह पाप से बचने के लिए साधकदशा में होता है; परन्तु बंध का कारण होने से उसके आश्रय से मोक्षमार्ग नहीं होता। अरागी पूर्णस्वभाव का अवलम्बन ही एकमात्र मोक्षमार्ग है, वही परमावश्यक है। निर्विकल्प निज ज्ञानानन्द में अरागदशारूप एकाग्रता ही निश्चय आवश्यक है।[१]

कर्मक्षय में कुशल शुद्धोपयोगरूप मोक्ष का उपाय त्रिकाल एक ही है और वह है, अपनी आत्मा में लीन रहना। अतः मैं आत्मा में लीनतापूर्वक शीघ्र ही अद्‌भुत निर्विकल्प सुख को प्राप्त करता हूँ, प्रगट करता हूँ।

आत्मा का स्वभाव आत्मा में है, किसी अन्य पदार्थ में नहीं है। आत्मा का धर्म आत्मा में ही होता है ह्न यह नियत/पक्की मर्यादा है अर्थात् किसी देवादि परद्रव्य के द्वारा नहीं होता, पर के अवलम्बन से नहीं होता। किसी सम्मेदशिखरादि तीर्थक्षेत्र से, कल्याणक आदि काल से नहीं होता और व्यवहाररत्नत्रयरूप व्रतादि के शुभभाव से आत्मधर्म अर्थात् मोक्षमार्ग नहीं होता। तीन काल तीन लोक में स्वाश्रय से ही/अरागी निश्चय रत्नत्रय से ही आत्मधर्म होता है ह्न ऐसा दृढ़निश्चय और एकाग्रपरिणति साधकदशा में होती है।

वहाँ शुभराग के समय परद्रव्य के प्रति झुकाव अर्थात् व्यवहारतीर्थ, व्यवहार पूजा-भक्ति आदि होते हैं; वे व्यवहार हैं।

सर्वत्र राग का निषेध करनेवाली अरागदृष्टि सहित राग की मंदतापूर्वक सम्मेदशिखरादि तीर्थक्षेत्र की वंदना के भाव को व्यवहार वन्दना आवश्यक कर्म कहा जाता है। इसीप्रकार छहों आवश्यकों के बारे में समझ लेना चाहिए।

आत्मा से ही आत्मा का कल्याण होता है ह्न यह त्रिकाल अबाधित नियम है; परसे कहना यह तो घी के घड़े की भाँति निमित्त मात्र कथन है, व्यवहार है।[२]"

इसप्रकार इस कलश में निष्कम्प रत्नदीपक के उदाहरण के माध्यम से यही कहा गया है कि अपने त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाला शुद्धोपयोग ही निश्चय परम आवश्यक है।।६६।।

इसी बात को स्पष्ट करते हुए टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११६१ २. वही, पृष्ठ ११६२-६३

(मंदाक्रांता)

आत्मन्युच्चैर्भवति नियतं सच्चिदानन्दमूर्त्तौ
धर्मः साक्षात् स्ववशजनितावश्यककर्मात्मकोऽयम्।
सोऽयं कर्मक्षयकरपटुर्निर्वृतेरेकमार्गः
तेनैवाहं किमपि तरसा यामिं शं निर्विकल्पम्।।२३८।।

(रोला)

जो सत् चित् आनन्दमयी निज शुद्धातम में।
रत होने से अरे स्ववशताजन्य कर्म हो।।
वह आवश्यक परम करम ही मुक्तिमार्ग है।
उससे ही मैं निर्विकल्प सुख को पाता हूँ।।२३८।।

स्ववशजनित अर्थात् अपने आत्मा के आश्रय से उत्पन्न आवश्यक कर्मरूप यह साक्षात् धर्म, सच्चिदानन्द की मूर्ति आत्मा में निश्चित ही अतिशयरूप से होता है। कर्मों के क्षय करने में कुशल यह धर्म, निवृत्तिरूप एक मार्ग है, मुक्ति का एकमात्र मार्ग है।

उससे ही मैं शीघ्र ही अद्‌भुत निर्विकल्प सुख को प्राप्त होता हूँ।

इसप्रकार इस कलश में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि सच्चिदानन्दमयी निज शुद्धात्मा के ज्ञान-दर्शनपूर्वक होनेवाली आत्म-लीनता ही निश्चय परम आवश्यक कर्म है, साक्षात् धर्म है; उससे ही अनन्त सुख की प्राप्ति होती है।

निज शुद्धात्मा के आश्रय से अर्थात् निज आत्मा में अपनापन स्थापित करने से, उसे ही निजरूप जानने से और उसी में एकाग्र हो जाने से, जम जाने से, रम जाने से उत्पन्न होनेवाले निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्‌चारित्ररूप रत्नत्रय ही मुक्ति का एकमात्र साक्षात् मार्ग है, साक्षात् मुक्ति का मार्ग है। इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। अतः **सभी आत्मार्थियों का एकमात्र कर्त्तव्य शुद्धात्मा की उपलब्धि ही है, उसे प्राप्त करने का प्रयास करना ही है।।२३८।।**

नियमसार गाथा १४२

निश्चय परमावश्यकाधिकार की पहली गाथा में निश्चय परम आवश्यक कर्म की सामान्य चर्चा करने के उपरान्त अब इस दूसरी गाथा में उसका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ बताते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है ह्न

ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयं ति बोद्धव्वा।
जुत्ति त्ति उवाअं ति य णिरवयवो होदि णिज्जुत्ती।।१४२।।

(हरिगीत)

जो किसी के वश नहीं वह अवश उसके कर्म को।
कहे आवश्यक वही है युक्ति मुक्ति उपाय की ॥१४२॥

जो अन्य के वश नहीं है, वह अवश है और अवश का कर्म आवश्यक है ह्न ऐसा जानना चाहिए। यह अशरीरी होने की युक्ति है, उपाय है; इससे जीव अशरीरी होता है ह्न ऐसी निरुक्ति है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

"यहाँ अवश अर्थात् स्ववश-स्वाधीन परमजिन योगीश्वर को परम आवश्यक कर्म अवश्य होता है ह्न ऐसा कहा है।

अपने आत्मा को चारों ओर से ग्रहण करनेवाले जिस आत्मा को स्वात्मपरिग्रह के अतिरिक्त अन्य किसी परपदार्थ के वश नहीं होने से अवश कहा जाता है; उस अवश परमजिनयोगीश्वर को निश्चय धर्मध्यान रूप परमावश्यक कर्म अवश्य होता है ह्न ऐसा जानना।

वह परम आवश्यक कर्म निरवयवपने (मुक्त होने) का उपाय है, युक्ति है। अवयव अर्थात् काय (शरीर)। काय का अभाव ही अवयव का अभाव है, निरवयवपना है। तात्पर्य यह है कि परद्रव्यों के अवश जीव निरवयव है, अकाय है ह्न इसप्रकार निरुक्ति है, व्युत्पत्ति है।"

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

"जिनके सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान में पूर्ण स्वतंत्र आत्मवस्तु का निश्चय वर्तता है और इसके साथ अन्तरंग में स्थिरतारूप वीतरागचारित्र वर्तता है ह्न ऐसे परमजिनयोगीश्वरों को परम-आवश्यक कर्म अर्थात् स्वाभाविक आत्मपरिणतिरूप कार्य अवश्य होता है।[१]

सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान द्वारा मिथ्यात्व-रागादि को जीतनेवाला ही योगी है। वह अपने पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप को ही स्व-परिग्रह मानता है, स्वाश्रय ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में जागृत रहता है, विपरीतभावों के वश नहीं होता। इसलिए ही उसे परवश न होनेवाला 'अवश' याने स्वतंत्र कहा गया है।[२]

'परवशता नहीं है' यह नास्ति से किया गया उपचार कथन है; क्योंकि जब

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११६६ २. वही, पृष्ठ ११६६

स्वाश्रय ज्ञाता-दृष्टा रहता है, तब परवशतारूप विरुद्धभाव की उत्पत्ति ही नहीं होती। इसलिए **सम्यग्दृष्टि को भी योगी कहा जाता है।**[१]

अरे ! जिसे अभी जड़ से भिन्न चैतन्यसत्ता का भान नहीं है, उसे अपनी विकारी पर्याय स्वतंत्रपने अपने अपराध से होती है, और विकार स्वभाव में नहीं है। ह्न ऐसी सम्यक् दृष्टि प्रगट नहीं होती।[२]

जितना ज्ञानी अरागी निश्चयस्वभाव में स्थिर रहता है, उतना चारित्र-अपेक्षा स्ववश है। दृष्टि में तो पूर्णतः स्ववश ही है, मुक्त ही है। चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से पराश्रय का अवलम्बन टूटता है ह्न यही मुक्ति की युक्ति है, मोक्ष का उपाय है। पराश्रय बंधभाव से पुण्यास्रव की पुष्टि करनेवालों की बात तो कुयुक्ति है; क्योंकि मुक्ति का उपाय निमित्त, पुण्य, व्यवहार या शरीर की क्रिया से तीन काल में भी नहीं होता।

स्वाश्रय निश्चयरत्नत्रय से ही मुक्ति होती है। इस अबाधित नियम को स्थापित करके मिथ्यात्व का त्याग करना ही सम्यक्युक्ति है।[३]

अवयव अर्थात् काय और काय से रहित निरवयपना है। तात्पर्य यह है कि पुण्य-पाप आदि भावकर्म तथा जड़ द्रव्यकर्म आदि से मुक्त होने का तथा अनन्त ज्ञानानन्द की पूर्णता सहित होने का उपाय स्ववशता अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग है और उसका कारण त्रिकाली चिदानन्द निज परमात्मद्रव्य है।

व्यवहार व्रतादि शुभराग से पुण्यबंध होता है और मिथ्यात्व-अव्रतादि अशुभराग से पापबंध होता है तथा आत्माश्रित अरागी ज्ञान एवं शान्तिरूप स्ववशता से शक्तिरूप में विद्यमान बंधरहित अकेली स्वाधीन सुखदशा प्रगट होती है।[४]"

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका में यह कहा गया है कि **किसी अन्य के वश नहीं होना ही अवश है और अवश का भाव आवश्यक है, परम आवश्यक है, निश्चय परम आवश्यक है। यह निश्चय परम आवश्यक ही साक्षात् मुक्ति का मार्ग है, अशरीरी होने का उपाय है।**

अपने त्रिकाली ध्रुव आत्मा में अपनापन स्थापित करना, उसे ही निजरूप जानना-मानना और उसमें लीन हो जाना ही स्ववशता है। इस स्ववशता को ही यहाँ परम आवश्यक कर्म कहा गया है। इसके विरुद्ध परपदार्थों और उनके आश्रय से उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेषरूप परिणामों में अपनापन ही परवशता है। यह परवशता आत्मा का कर्त्तव्य नहीं है, आत्मा के लिए आवश्यक कर्म नहीं है; क्योंकि

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११६६ २. वही, पृष्ठ ११६९ ३. वही, पृष्ठ ११७०
४. वही, पृष्ठ ११७०-११७१

वह अवस्था बंधरूप है, बंध की कारण है।।१४२।।

इसके उपरांत टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं; जो इस प्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

योगी कश्चित्स्वहितनिरत: शुद्धजीवास्तिकायाद्
अन्येषां यो न वश इति या संस्थिति: सा निरुक्ति: ।
तस्मादस्य प्रहतदुरितध्वान्तपुंजस्य नित्यं
स्फूर्जज्योति:स्फुटितसहजावस्थयाऽमूर्तता स्यात् ।।२३९।।

(रोला)

निज आतम से भिन्न किसी के वश में न हो।
स्वहित निरत योगी नित ही स्वाधीन रहे जो।।
दुरिततिमिरनाशक अमूर्त ही वह योगी है।
यही निरुक्तिक अर्थ सार्थक कहा गया है।।२३९।।

स्वहित में लीन रहता हुआ कोई योगी शुद्धजीवास्तिकाय के अतिरिक्त अन्य पदार्थों के वश नहीं होता। उसका इसप्रकार सुस्थित रहना ही निरुक्ति है, व्युत्पत्ति से किया गया अर्थ है। ऐसा होने से अर्थात् पर के वश न होकर स्व में लीन रहने से दुष्कर्मरूपी अंधकार का नाश करनेवाले उस योगी को सदा प्रकाशमान ज्योति द्वारा सहज अवस्था प्रगट होने से अमूर्तपना होता है।

इस छन्द के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''पुण्य-पाप के वश होना ही संसार है और पुण्य-पाप से पार निज चिदानन्द आत्मस्वभाव की श्रद्धापूर्वक उसमें स्थिर होना ही अवशपना है, स्ववशपना है। जिसने स्वाश्रयपूर्वक पुण्य-पापमय दुष्कृतरूपी अंधकार समूह का नाश किया है। ऐसे योगी को सदा प्रकाशमान ज्ञानानन्दज्योति द्वारा सहजदशा प्रगट होने से अमूर्तपना अर्थात् साक्षात् सिद्ध/मुक्त परमात्मदशा प्रगट होती है।[1]''

उक्त छन्द का सार यह है कि **आत्मकल्याण में पूर्णत: समर्पित योगी अपने आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी समर्पित नहीं होता। तात्पर्य यह है कि वह सदा स्ववश ही रहता है, अन्य के वश नहीं होता।**

दुष्कर्म का नाश करनेवाला ऐसा योगी सदा प्रकाशमान ज्ञानज्योति द्वारा अमूर्तिक ही रहता है, मूर्तिक शरीर से एकत्व-ममत्व से रहित वह आत्मस्थ ही रहता है; फलस्वरूप अमूर्तिक ही है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा की आराधना करनेवाला सच्चा योगी अपने आत्मा के

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११७१-११७२

अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी एकत्व-ममत्व धारण नहीं करता, किसी अन्य का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं बनता। उसकी यही वृत्ति और प्रवृत्ति उसे स्ववश बनाती है।।२३९।।

नियमसार गाथा १४३

इस निश्चय परम आवश्यक अधिकार की आरंभ की दो गाथाओं में अन्य के वश से रहित स्ववश की चर्चा की; अब इस तीसरी गाथा में अन्यवश की बात करते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

वट्टदि जो सो समणो अण्णवसो होदि असुहभावेण।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवस्सयलक्खणं ण हवे ।।१४३।।

(हरिगीत)

अशुभभाव सहित श्रमण है अन्यवश बस इसलिये।
उसे आवश्यक नहीं यह कथन है जिनदेव का।।१४३।।

जो श्रमण अशुभभाव सहित वर्तता है, वह श्रमण अन्यवश है; इसलिए उसके आवश्यक कर्म नहीं है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ ऐसा कहा है कि भेदोपचार रत्नत्रय परिणतिवाले जीव को अवशपना नहीं है ह्न ऐसा कहा है।

जो श्रमणाभास द्रव्यलिंगी अप्रशस्तरागादिरूप अशुभभावों में वर्तता है, वह निजस्वरूप से भिन्न परद्रव्यों के वशीभूत होता है। इसलिए उस जघन्य रत्नत्रय परिणतिवाले जीव को स्वात्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले निश्चय धर्मध्यानरूप परमावश्यक कर्म नहीं है।

वह श्रमणाभास तो भोजन के लिए द्रव्यलिंग धारण करके स्वात्म कार्य के विमुख रहता हुआ परमतपश्चरणादि के प्रति उदासीन जिनेन्द्र भगवान के मंदिर अथवा जिनमंदिर के स्थान, मकान, धन, धान्यादि को अपना मानता है, उनमें अहंबुद्धि करता है, एकत्व-ममत्व करता है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा और उसकी टीका के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''समयसार ग्रन्थाधिराज के आस्रव अधिकार में तो ज्ञानी को भी जघन्यरत्नत्रय कहा है। यहाँ व्यवहार मात्र में ही लीन मिथ्यादृष्टि को जघन्य अर्थात् हीनपरिणतिवाला

कहा है। यहाँ शैली ऐसी है कि **जिनके मात्र व्यवहाररत्नत्रय का ही आश्रय है, वे व्यवहार से शुभसहित होने पर भी निश्चय से तो अशुभ सहित ही हैं; क्योंकि शुद्ध, असंग, अतीन्द्रिय निजसुखस्वरूप भगवान आत्मा का उन्हें भान नहीं है।** वे व्यवहार क्रिया से धर्म मानते हैं। अतः वे भले ही सच्चे देव-गुरु शास्त्र की श्रद्धा, आगमज्ञान और व्यवहारसंयम पालते हों; परन्तु उनके आस्रव की भावना वर्तती होने से उनकी परिणति जघन्य है - हीन है। खोटे हीरे की तरह उनका रत्नत्रय झूठा है - अशुभ है। वे मात्र द्रव्यलिंग धारण करके स्वात्मकार्य से विमुख रहते हुए यथार्थ तपश्चरण आदि के प्रति उदासीन रहते हैं और मात्र पराश्रयभूत व्यवहार में ही उत्साही होते हैं।[१]

कुन्दकुन्दाचार्य आदि महामुनिनाथ जैसे नग्न दिगम्बर भावलिंगी संत कहते हैं कि अकेले व्यवहार की रुचिवाले परद्रव्य में कर्तृत्व-ममत्वबुद्धि और आत्मानन्द की अरुचिरूप अशुभभाव से मात्र अपना पेट भरने के लिए ही मुनिभेष धारण करते हैं। - ऐसे चैतन्यस्वरूप आत्मा के प्रति उदासीन और व्यवहार के प्रति उत्साहवान जीव संसारमार्गी-संसारी ही हैं।[२]

अहाहा ! जिसे शुद्ध आत्मा का भान भी नहीं है, उसे स्ववशपना कहाँ से होगा ? जिसप्रकार अज्ञानी अपने को पर का कर्त्ता मानता है; उसीप्रकार द्रव्यलिंगी मुनि भी यदि ऐसा माने कि मैं पाठशाला, मकान, मन्दिर आदि का कर्त्ता हूँ या अमुक कार्य करा सकता हूँ, तो वह भी अज्ञानी ही है। परद्रव्य की पर्याय आत्मा कर ही नहीं सकता। पर से भिन्न निज-आत्मा को जानकर उसमें लीन होना ही अवशपना है अर्थात् आवश्यक कार्य है।[३]''

विशेष ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव अत्यन्त स्पष्ट और कठोर शब्दों में कह रहे हैं कि जघन्य रत्नत्रय परिणतिवाले जीव को निश्चय धर्मध्यानरूप परमावश्यक कर्म नहीं है। उसने भोजन के लिए द्रव्यलिंग (नग्न दिगम्बर दशा) धारण किया है।[४] वह जिनमंदिर और उसकी जमीन, मकान, धन-धान्य को अपना मानता है, उस पर अधिकार जमाता है।

इससे प्रतीत होता है कि **आज से हजार वर्ष पहले उनके समय में भी इसप्रकार की दुष्प्रवृत्तियाँ चल पड़ी थीं और उनका निषेध भी बड़ी कड़ाई के साथ किया जा रहा था।।१४३।।**

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११७५ २. वही, पृष्ठ ११७६ ३. वही, पृष्ठ ११७७
४. अशनार्थं द्रव्यलिंग गृहीत्वा स्वात्मकार्यविमुखः सन्..

इसके बाद मुनिराज पाँच छन्द लिखते हैं, उनमें से पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

अभिनवमिदमुच्चैर्मोहनीयं मुनीनां
त्रिभुवनभुवनान्तर्ध्वांतपुंजायमानम्।
तृणगृहमपि मुक्त्वा तीव्रवैराग्यभावाद्
वसतिमनुपमां तामस्मदीयां स्मरन्ति।।२४०।।

(ताटंक)

त्रिभुवन घर में तिमिर पुंज सम मुनिजन का यह घन नव मोह।
यह अनुपम घर मेरा है - यह याद करें निज तृण घर छोड़।।२४०।।

मानो जैसे तीन लोकरूपी मकान में घना अंधकार प्रगाढ़रूप से भरा हो, वैसा ही द्रव्यलिंगी मुनियों का यह अभिनव तीव्र मोह है; जिसके वश वैराग्यभाव से छोड़े हुए घास के घर को छोड़कर भी मन्दिरादि में एकत्व-ममत्व करता है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक ह्न इसप्रकार त्रिलोकरूपी मकान में रहे हुए अंधेरे के समान अज्ञानियों का मोह है। यहाँ कह रहे हैं कि जिस जीव ने पहले तो वैरागी होकर राजपाट, हाथी, घोड़ा, महल, मकानादि समस्त परद्रव्यों को, यहाँ तक कि घास की झोंपड़ी को भी छोड़कर मुनिदशा अंगीकार कर ली है; और बाद में मुनि-अवस्था में 'यह मेरा अनुपम घर' इसप्रकार मोह से ममता करता है। अपने अनुपम चैतन्य घर को छोड़कर मकान को याद करता है, तो तीव्रमोह है। 'मेरा ऐसा बंगला था, ऐसा घर था और मैंने उसको छोड़ा है' इसप्रकार परद्रव्य को अपना मानकर स्मरण करता है, सो यह तो द्रव्यलिंगी मुनि का तीव्रमोह है। तात्पर्य यह है कि उसके आत्मवश ऐसा आवश्यक कार्य नहीं है।

आचार्य कहते हैं कि अरे ! तेरी ऋद्धि तो तेरे अन्दर में है, मकान आदि में तेरी ऋद्धि नहीं है।[१]''

इस छन्द में आश्चर्य व्यक्त किया गया है कि **जिसने वैराग्यभाव से समस्त परिग्रह का त्याग कर नग्न दिगम्बर दशा स्वीकार की; वह उत्कृष्ट पद प्रतिष्ठित होने पर भी उस घास की झोपड़ी को याद करता है; जिसे वह छोड़कर आया है। यह सब कलयुग का ही माहात्म्य है।।२४०।।**

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११७८-७९